बनपाखी सुनो

श्रीनरेश मेहता

जिन काव्य-संकलनों ने नयी-कविता को उपलब्धियों के शिखर पर पहुँचाया उनमें 'बनपाखी ! सुनो !!' निश्चय ही प्रमुख तथा अप्रतिम संकलन रहा है। यह नयी-कविता का ही नहीं वरन् स्वयं नरेशजी के महत् काव्य-विकास में महत्त्वपूर्ण रहा है। 'उत्सवा' और 'तुम मेरा मौन हो' तक की नरेश जी की अनुपमेय सृजनात्मक उपलब्धियों के सारे गुण उनके इस प्रथम काव्य-संकलन में भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

इधर यह वर्षों से अनुपलब्ध था लेकिन तब भी इस संकलन की प्रासंगिकता, लोकप्रियता तथा सार्थकता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

आधुनिक कविता के नरेशजी जिस प्रकार विशिष्ट स्रष्टा हैं उसी प्रकार उनका यह प्रथम काव्य-संकलन भी न केवल हिन्दी की आधुनिक कविता बल्कि भारतीय कविता की विशिष्ट सृष्टि है।

Purchased at Delhi
Feb - March — 1987

वनपाखी ! सुनो !!

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

वह पारुल सुनो

श्रीनरेश मेहता

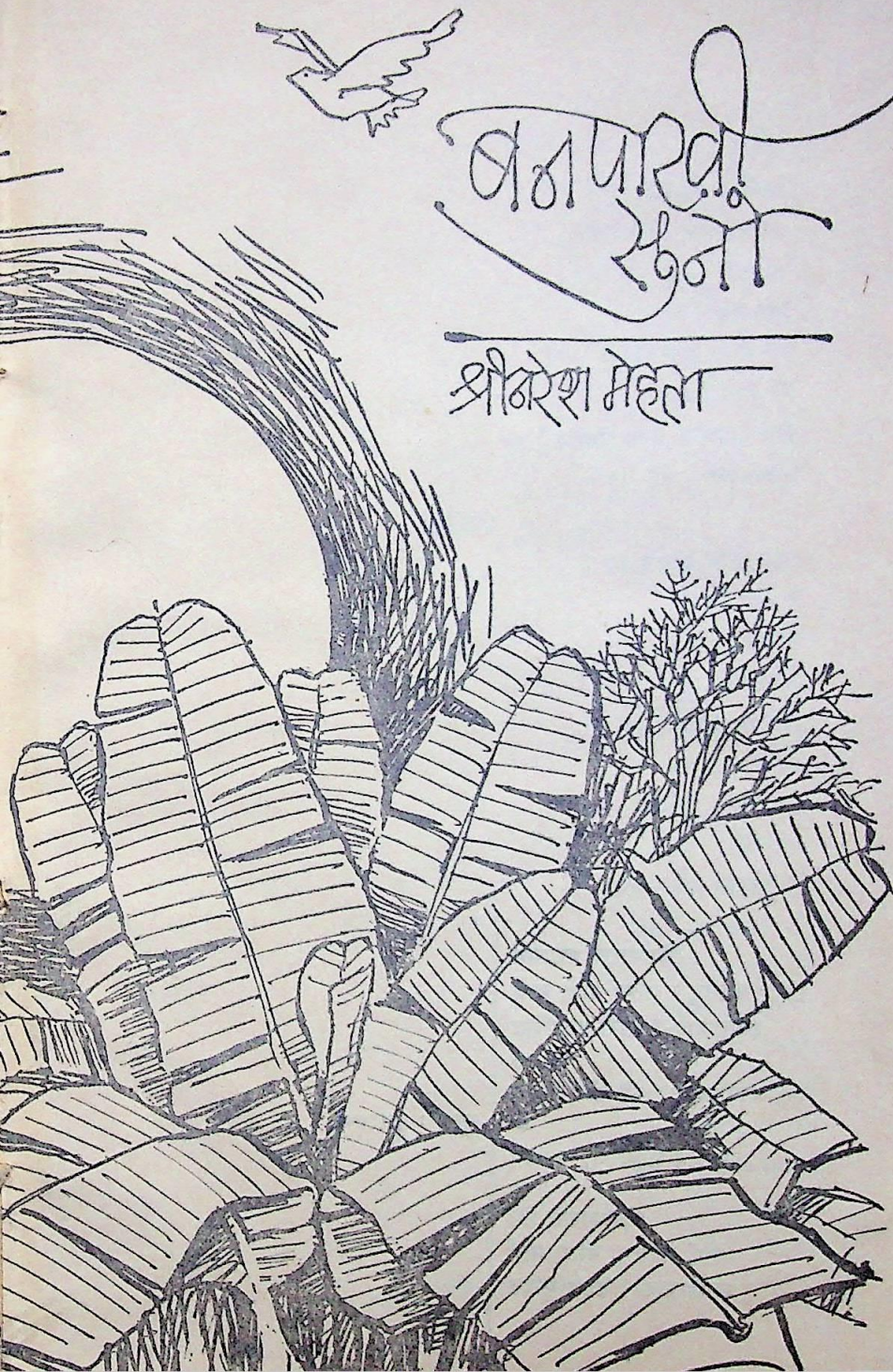

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

कापीराइट : श्री नरेश मेहता

●

द्वितीय संस्करण, १९८२

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : १५.००

९ / प्रार्थना
१० / ये हरिण सी बदलियाँ
१२ / ज्वार गया, जलयान गये
१४ / तीर्थजल
१६ / एक बोध
१७ / बीमार साँझ के किनारे
१९ / निज पथ
२० / डाकती संज्ञा, बनपाखी सुनो
२२ / चन्द्रमायनी

अनुक्रम

२३ / वर्षा भीगा शहर
२५ / मेघ, मैं
३० / प्रार्थना
३१ / वनघासें
३४ / समय का भिक्षु
३५ / पुनः भिक्षु
३६ / मित्र हूँ, प्रियम्वद् हूँ
३८ / निवेदनम्
४० / डार बिछुड़ा मृग
४२ / मेघ पाहुन द्वार
४४ / पीले फूल कनेर के
४६ / उदयन है यशवंशी
४७ / मेघ से पहले
४९ / वचन का बकुल
५० / समय का जल
५१ / मालवी फाल्गुन
५३ / यहीं कहीं
५४ / देवकृपाएँ

विशिष्ट शब्द

महिमा !

आओ
उस जल को डाकें हम
कल जो आएगा
रत्नाकर हो वह ।
इसको—
चला जाने दो
यह भी था बन्धु ज्वार,
लीप गया फेन
संग छोड़ गया सीप भार ।
चलो,
लौटें अब,
खारा जल
पैर ही भिगोएगा,
बालु भरी अंजलि में
हमने कुछ पाया ही ।

शीर्षबन्ध :

अपने इस संग्रह के बारे में कुछ भी नहीं कहना; कारण कि इन कविताओं का लिखना भर मेरा कर्तव्य रहा, इनके बारे में कहना, नहीं। लिखकर धर्म पूरा हुआ। मुझे सुख यही है कि मेरे कवि से 'विशेष' की आशा किसी को भी नहीं रही इसलिए 'स्वागत' 'तिरस्कार' का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि एक पंक्ति भी 'कविता' लगे, तो मेरा धर्म सार्थक हो जाएगा। अस्तु—

अधिकांश '५३ के बाद की हैं। कुछ अवश्य ही '४६-'४७ की भी हैं, किन्तु वैषम्य अधिक नहीं लगेगा। कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ पीछे दे दिये हैं।

इति, नमस्कारान्ते—

दीपावली,
नयी दिल्ली, १९५७

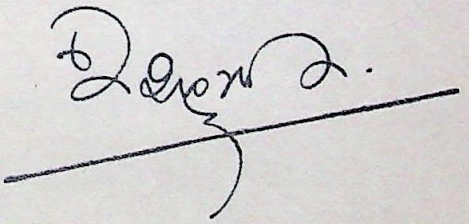

९९ ए, लूकरगंज
इलाहाबाद, १९८२

प्रार्थना :

वहन करो,
ओ मन ! वहन करो,
सहन करो पीड़ा !!

यह अंकुर है,
उस विशाल वेदना की—
वेणुवन दावा-सी थी
तुम में जो जन्मजात—
आत्मज है
स्नेह करो, अंचल से ढँककर रक्षण दो,
वरण करो,
ओ मन ! वहन करो पीड़ा !!

सृष्टिप्रिया पीड़ा है
कल्पवृक्ष—
दान समझ, शीश झुका
स्वीकारो—
ओ मन करपात्री ! मधुकरि स्वीकारो !!
वहन करो, सहन करो,
ओ मन ! वरण करो पीड़ा !!

ये हरिण सी बदलियाँ :

थी घिरीं उस साँझ भी कबरी हरिण सी बदलियाँ !!

आज तक हैं कह रहे
ये घाट के पत्थर,
लहर जल, ककड़ियों के खेत—
झुरमुटों पर मृगनयन-सी तितलियाँ उड़ती हुई,
साँझिल हवा—
सब कह रही हैं।
पकड़ने सूर्यास्त बढ़ते चरण चिह्नों को हमारे
यह समेटे आज तक लेटी हुई है
गोमती की रेत।
दूर उस आकाश के पीपल तले
हवाओं के नील डैने थे खुले,
छू तुम्हारा लाल अंचल मृदु झकोरे
संग चलने के लिए करते सदा थे मृग-निहोरे।
पन्थ की पसली सरीखी यह उभरती जड़
जहाँ हम बैठते थे,
कह रही है—
हम मिले थे, साँझ थी, तट था यही, थीं कदलियाँ !!
थीं घिरीं उस साँझ भी कबरी हरिण सी बदलियाँ !!

वर्ष बीते,
हम समय की घाटियाँ उतरे
बहुत उतरे—
दूब भी सूखी,
पठारों भरे तट छितरे—

अर्द्ध डूबा बुर्ज धँसता गया होगा और भी गहरे ।
मैं विरह के शाप का पहने मुकुट
सहसा गया उस रात,
था चँदोले वर्क में लिपटा पड़ा
तन्वंगिनी उस गोमती का गात,
कुहर भीगे गाछ—
रस्सियों में नाव बाँधे थे पड़े चुपचाप लेटे पाट-
पंख तौले पत्तियाँ झरनी शुरू थीं—
किनारों की जलभरी जड़खाइयों में
उनींदी लहरें भरी थीं—
फुनगियों पर कपोती सी चाँदनी अलसा रही थी—
एक गहरी शान्ति,
नीली शान्ति—
तुम्हारी उर-झील में जो समाहित हो न पायी
जल रही है आज तक मेरे हृदय में
वही पहली क्रान्ति !!
मेरी भ्रान्ति !!
कहो तो स्वीकार लूँ अपनी पराजय,
क्योंकि,
सत्य है अब—
हम अलग हैं, रात है,
उस बाँध पर बंसी लगाये एक मछुआ गा रहा है कजलियाँ !!
थी घिरीं उस साँझ भी कबरी हरिण सी बदलियाँ !!

ज्वार गया, जलयान गये :

हमारे तट पर के जलयान
सदा को किसी दिशा के होकर
चले गये अब ।
जल है,
तट है,
शंख सीपियों बीच
समुद्री झरबेरी से हम
अब भी भीगी पलक
अधूरे वाक्य कण्ठ में लिये खड़े हैं ।
ज्वार गया, जलयान गये—

इस बालू घिरे जल को हम कितने दिन तक
सिन्धु कहेंगे ?
क्षितिज पार जब डूब रहे थे
हंसपाल वे,
हम पैरों लिपटे पृथिवी के भुजंग से रहे जूझते
चले गये उन धावमान के सँग में
लंगर विश्वासों के ।
ओ खाड़ी के ज्वार !
उन जलयानों को तट पहुँचाना
जो कि हमारे जल में छाँहें छोड़ गये हैं—
गोरज रँगे अकास बीच वे चले गये—
कूलगाछ सा हमें समझ
उस सूर्यछाँह में,
ज्वार गया, जलयान गये
सँझवायी लहरों पर गतिशील सदा को चले गये ।

तिरते फेनफूल का जल है,
मुँहधेरे का निर्जन तट है
पोतहीन पर—
हम विकल्प के वल्कल में संशय-विष पीड़ित
किसी भग्न मस्तूल सरीखे खड़े हुए हैं
वृक्षभाव से,
संकल्पहीन पर—
अब भी हम में प्रश्न शेष हैं—
कहो क्या करें मुट्ठी में इस कसी रेत का?
किसे जलायें ?
कहो क्या करें खुले हुए इस अग्निनेत्र का ?—(क्योंकि)
हमारे संकल्पित इस तीर्थकुण्ड से लपट उठ रही,
सती उठाये हम पूरी प्रदक्षिणा करके लौटे—
किन्तु हमारे मन का
संशय, दर्प और विद्रोह वही है
कैसे हम तब झुकते
ओ मेरी गति !
कैसे अब झुक पायें !!

फिर से लौट लौट-आने को
ज्वार गये वे,
उर का घाव गहन करने
जलयान गये वे,

स्वीकारो यह शंखजल देय हमारा—
हम ज्वारों से वंचित,
अकिंचन जलयानों से,
खण्डित पाथर-तट का प्रेय हमारा।

तीर्थजल :

हमें शेष से जोड़ो—

काटो ये काई के बन्धन,
भाँगो सुन्दर महराबों की पाथरकारा ।
नवजल के उत्सों की गति को छोड़
भटक आयी जलधारा—
बन्दी पाखी सा एकाकीपन
घायल स्वर में शतः निनादित—
"हमें शेष से जोड़ो,
जोड़ो, जोड़ो"—

सहज भाव के पिताजलों से दूर
हमारी यह जलधारा,
अन्धकार में अन्धसर्प सी पथ टटोलती
(इस) कुण्ड बीच आ समा गयी है—
घाट घेरकर खड़े हो गये
वट की सर्पिल छाँहें जल में देख
धूप कतरा जाती हैं ।
अब न हमारी
पिताजलों सी माटी सनी देह होती है ।
अपना कल्मष धोने को
इस भटके जल को तीर्थ पुकारा
तुमने—
गति मर कर अथाह हो गयी,
स्रोत स्वयं का पीकर हम
निर्वंश हो गये—

कलमष धोते-धोते अब हम जल न रह सके।
पुण्य हमारा लेकर वे यात्रीजन
इन घाटों पर जीर्ण वस्त्र से
स्नेह धर गये।
कहीं हमारे जल में फिर से
परम्परागत ज्वार न आये,
पिताजलों की भाँति कहीं हम
सिन्धुक्रोड़ के लिए न हों फिर से उत्कण्ठित,
तुमने ये अभिषिक्त शिलाएँ रख कर
हमको उद्गमहीन कर दिया
सदा-सदा को

अब भी अधर आचमन को लालायित ओ यात्रीजन ?
हटो, हमारे गति के बाधक !
जलजिह्वाएँ ज्वार उगलतीं—
तोड़ो, तोड़ो,
इन पाथरी चीवरों के उस पाऽऽर
पिताजलों का पुण्यलोक है
जिनके गतिरथ नदियाँ लिखते।

एक बोध :

अब मिहिर सिर आ गया
तपने लगी यह रेत—
रह गये पीछे
जिनके कुन्तलों की छाँह में
हुआ सूर्योदय हमारा ।
बहुत कुछ छूटा,
और टूटा भी—
हम असंगी,
स्मरण-बैसाखी सहारे चल रहे ।
रेत के पदचिह्न ही क्या ??
ये ही हमारे लिए अनुधावित रहे
इनकी मैत्री क्या ??

अब हमारे और उस छूटे विगत के बीच
सम्बन्ध है तो यह कि
हम प्रव्रजावसित हैं—
ऋतु-अभिषेक सिर पर झेलते,
भाल पर संकोच रेखा—
विवशताएँ कण्ठ में—
अनागत यात्रा, सम्मुख तवे सी जल रही,
हम आयु के अश्वत्थ—
अपनी छाँह भी स्वीकार जिसको है नहीं ।

बीमार साझ के किनारे :

चीन के मन्दे पीले लालटेन—उत्सव की तरह
जर्द रेशम की गरम बाँह में लिपटी
समुद्रि साँऽऽझ बेहोश
अपने बीमार विचारों में सुना करती है—
तम की,
साबुन की झाग सी नरम
किन् किन् किन्
झिम् झिम् झाँझें।
टेशोकोटो के सुरों सी हल्की
जापान के किसी गीत को टाइप करती लहरें
मद्धिम लहरें—
काँच की चूड़ी की तरह गोऽल गोऽल
आऽरहों आऽरहों—
झाग का क्लिप खोंसे
साँझ की बीमार छाँहों के तले।

आज तो चट्टान की पत्थर की हथेली है गरम,
आज तो किनारे के ये चिकने भूरे कंकर भी गरम,
क्योंकि गन्धक की तरह तेज हवा दिन में चली
जल गयीं फूल की बारीक नसें
जिनसे होकर के ये पानी की रंगिम लहरें
फूल बनीं, पेड़ बनीं।

अपने बीमार जले पंख लिये
नारियल पेड़—
मैकबैथ की चुड़ैलों की तरह

बीमार साँझ के सिरहने चुप हैं।
दूर के उस फीके-फीके—
एल्युमीनम की तरह हल्के नभ में
पोत बन्दर के
खड़े क्रेन—
पसलियाँ भूत की जैसे हों खड़ीं,
साँझ के बीमार के पैरों की तरफ।
पश्चिम को गगन खिड़की के उन नील धुले शीशों पर
आज की बीमर, बुझो
साँझ की ये रोशनियाँ—
पाले टिंचर की तरह
फैल रहीं, फैल गयीं।

आज तो बीमार सभी,
बेहोश सभी,
सबके दिमागों में भरा
क्लोरोफार्म की महक की तरह तेज
यह अँधेरा, वो अँधेरा—
वो अँधेरा—

निज पथ :

हम झुका कर माथ
सब स्वीकार लेंगे
(पर) पथ यहाँ से अलग होता है !!

जो देय था वह दे चुके,
जो गेय था, छन्दित चुके;
हम मानते आकाशगंगा हैं तुम्हें
पर क्या करें ??
रख नहीं सकते क्षितिज पर एक भी सोपान—
(यह) नभ यहाँ से अलग होता है !!
(पर) पथ यहाँ से अलग होता है !!

राजपथ रथ के लिए,
पगवाट है पग के लिए;
सब मार्ग की अपनी दिशा, अपने क्षितिज
हम क्या करें ??
आग्रह करो मत इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान्—
(यह) जन यहाँ से अलग होता है !!
(पर) पथ यहाँ से अलग होता है !!

डाकती संझा :

डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
नारिकेलों पर थमे हैं
भाद्रपद के मेघ कजरारे,
नील आकाशे खिचे हैं
जलधुले नव क्षितिज उजियारे;
दीर्घपर्णी गुछैले सागौनकुल के बीच
उत्सवप्रिया इन द्रोणियों में झिरनरेखा खींच
ऽविनम्री बादल, प्रणत लौ से ।
गुरुजनों सी शाल की ये पंक्तियाँ,
मित्रबाँहों सी उठीं वनघाटियाँ;
सीख देती हैं हमें—
यह आयु का अभिषेक है
स्वीकारती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!

चरण में दाबे क्षितिज ये
पंक्तिबद्ध चिनार,
मेघकपिला दुह रहे ये
देवचरितों के देवदार उदार;
गिलहरी सी चंचला वनवाट दूबों बीच,
हंसदेशों ओर ले जाती हमें यह खींच,
हेमलोकी यही हंसद्वार—
शिखर वस्त्रित वायु की वनबोलियाँ,
सांझ संगीता भरी घनघण्टियाँ,

सुनो यात्रिक ! सुनो
शेष गायन गा रहे सुधिहंस
सहसंगीतती संझा, बनपाखी ! सुनो !!
डाकती संझा, बनपाखी ! सुनो !!

चन्द्रमायनी :

वह सोनजुही सी चाँदनी !!
नव नीलम पंख कुहर खोंसे
मोरपंखिया चाँदनी !!

नीले अकास में अमलतास
झर झर गोरी छवि की कपास
किसलयित गेरुआ वन पलास
किसमिसी मेघ चीवर विलास
मन-बरफ शिखर पर नैनप्रिया
किन्नर रम्भा चाँदनी !!

मधु चन्दन चर्चित वक्षदेश
मुखढूज ढँके 'मावसी केश
दो हंस बसे कर नैन-वेश
अभिसार अँजी पल्कें अशेष
मन-ज्वालामुखी पर कामप्रिया
चँवर डुलाती चाँदनी !!

गौरा अधरों पर लाल हुई
कल मुझको मिलन गुलाल हुई
आलिंगन बँधी रसाल हुई
सूने वन में करताल हुई
मन-नारिकेल पर गीतप्रिया
बनपाखी सो चाँदनो !!

वर्षा भीगा शहर :

साँझ का झुटपुट
खड़े चुपचाप भीगे गाछ—
राख रंग के दही जैसा मेघ का परिवार
—अब बरसकर हो गया चुपचाप—
हरी दूबों भरा उस मैदान का विस्तार,
क्लर्क लड़को के रिबन सी
क्षीण काया सड़क
भीगी, मौन—
चढ़ गयी है सामने की टेकरी पर
देखने सतपुड़ा वन का निर्जनी
सूर्यास्त !!

हवाओं की नील गीली पन्नियाँ
उड़ रहीं भीगे, सँझाए शहर-शिखरों पर;
मोमकपड़े सी सड़क पर लाइटें
पीत फीतों सी
दुहरने अब लगीं।
अभी की भीगी हुई खपरैल से
धुआँ हिचकोला लिये है उठ रहा—
चाय का अदहन
फिर तरकारियों की गन्ध,
थकी दिन भर की रगों में
चाय का यह गरम इन्जेक्शन।
चल पड़ेगी जिन्दगी की धार
रुक गयी थी जो कि बारिश सँग।

अभी के भीगे हुए इस शहर पर
झुक गयो है वक्ष जननी सी
यह राख रंग की साँझ—
बेलन,
लोइयाँ फैल रहे होंगे,
आँच
माथे पर तवा रख रोटियों के फूल बेचेगी अभो।
शाम जो वर्षा हुई थी
पोस्टरों सी लग रही दीवार पर—
सूख जाएँगे सुबह ये धूप में

अभी का भीगा शहर यह
भोर तक
प्रार्थना करता रहेगा धूप की।

मेघ मैं :

मैं नतशिर
थे नैनमेघ भी झुके हुए,
हरियाली पर रथ उतारने के पहले
ज्यों पूछा करते मेघ, गगन से—
कितने योजन का जल पृथ्वी तक है गहरा ?

दूर कहीं
नीचे बाँसों के जंगल की घाटी में कोई हवा भर गयी—
ग्वाले की वंशी सी गाती हवा जंगली
टेर रही बदली की गायें ।

तन मन जिसका बिजली हो वह
हरिण मेघ मैं—
कब मोहित हो नीचे उतर रहा था
(मुझको) ज्ञात नहीं था ।

मुझे लगा नीचे धरती पर कोई बादल उतर चुका है,
मैंने रुकने की आज्ञा दी—
मेरी गर्जन गूँज बन गयी,
मेरे सारे नील देश में दौड़ गये गर्जन के घोड़े !!

वह विद्युत् भुजबन्ध कसे, था गरज रहा मुझ जैसा ही,
मैं शम्पा का कशाघात देने को ही था—
झील हँसी
लावण्य सिमट आया था भूमी का,
झरनों का पानी बनकर ।

मैं मोहित हो गया स्वयं की उस सोनी छाया पर—
मैं नारसीसस !!

दूर आक के पत्तों से था दूध झर रहा
वह सफेद थी हँसी व्यंग्य की
पेड़ों पर का लगा गोंद वे भूरे बन्दर
नोंच-नोंच कर चबा रहे थे,
तभी अचानक हाथी के कानों से बड़े-बड़े सागौनी पत्ते लगे बदन में।
दूब, बूँद का मुकुट बाँध उत्सव लगती थी।

× × ×

उतर रही थी घोषमयी वह पर्वतीय रेवा आँधी सी
अन्तर में कंकर स्वर भर कर—
उतर रही हो कोई अश्वपंक्ति पर्वत से टाप बजाती।
हिमकन्या यमुना की सारी चंचलता अब कहाँ गयी ?

वह मन्द-मन्द मैदान सींचती—
लगता जैसे ब्याह हो गया उसका इस मैदान देश से,
इसीलिए वह अंग चुराती।

कल जब बरस गया था मैं पानी-पानी हो
मुझे लहर की जलकन्याएँ मोहित करके
चाह रही हैं बहा-बहा कर ले जाना
उन दूर खजूरों के निर्जन कुञ्जों में,
बेबस बेचारा मैं पानी।

मैं प्रवाह में कहीं न घर से दूर बहा दूँ
इसीलिए वह धीवरपत्नी मनु के खातिर
बाँस टिपारी में दिया धर

नरियल की डोरी से है संकेत चढ़ाती—
उस पाऽऽर,
दूऽर के निचले तट से
मुँह पर हाथों का घेरा दे
कोई खड़ा टेरता जाता अपनी श्रद्धा।

श्रद्धा तक आने के पहले टेर हवा के सँग उड़ जाती—
मैं सरिता,
मेरी पानी की छाती पर से स्वर चिड़ियाँ
चीं चीं चीं चीं कर उड़ो जा रहीं
श्रद्धा के बहरे कानों तक –
जिनमें उस ऊँचे प्रपात के घोर नाद का भरा हुआ है
पिघला सीसा—
उस ऊँचे प्रपात से जैसे चट्टानें ही अहरह गिरतीं।

मीलों की वेकुअम गुफा में
जैसे केवल शब्द भरे हों, नाद भरा हो।
वह जीवन की टेर
मरण हुँकार पी गयी,
शायद एस्कीमो सा लड़ता होगा मछुआ
शब्द ह्वेल से।

× × ×

मुझ में तीर्थों का जल विचरण करता आया,
रात वरुण के नील महल में पूषा ने था सोम पिलाया--
"क्या मैंने है सोम पिया ?
ताड़ तुम्हारी शाखों पर हम नहीं रुकेंगे
इन मँडराती चीलों से कह दो हट जाएँ—

ऐंऽऽ
क्या मैंने है सोम पिया ?
किन्तु न जाने क्यों ये गायें
मुझे मारने सींग तानती दौड़ रही हैं मैदानों में ।"

कल का बादल आज बरस कर हरा हो गया —
मैं जब उतरा रेत देश में,
सूखे थे नैनों के ओसिस
चमड़े की मश्कें थी प्यासीं····'
मैं यदि उसकी दो चमड़े की गागर भर दूँ
तो पनीर वह मुझे खिलाये
ऊँट पालनेवाले की ईरानी लड़की ।

मैं जब उतरा प्यासे थे जंगल-के-जंगल,
चावल की घाटी सूखी थी,
फटी बिवाई सी नदियों की गोद बिछी थी ।
मैं तराइयाँ लाँघ जरा कुछ नीचे उतरा
लगे उलझने विद्युचरण पेड़ों काँटों में,
किन्तु आज मन आलोकित था
घेर-घेर कर बेर, झाड़ियाँ, ताड़, नारियल
अपनी झुलसी पीली पल्कें मिचका-मिचका लगे टोकने—

"मेघहंस····! तुम अब न लौटना मानसरोवर
अपने जलकलशों की छाया इस चौमासे हम पर करना"—
भुज भर मिलों नर्मदा-गंगा
लगे पकड़ने मेरी छाया, खेत सलोने ।
गाम गोयरे पहुँचा ही था
"पानीराजा ! पानीबाबा !"

कह के लगे माँगने ककड़ी भुट्टे
नाच नाच कर वे सन्थाली, भील-भिलाले लड़की-लड़के।

बैलों ने पहली फुहार को शिवा समझकर
नन्दी-सी निज पीठ बढ़ा दी।
मैदान देश की वधुसरिताएँ भारनता सी क्यों चलती हैं ?
शायद पानी का शिशु कन्धे पर है सोया।

मैं लौटा था गगनलोक का स्वर्ग देखकर
एकाकी, निर्जन उजाड़ जो,
स्वर्गलोक में कल्पवृक्ष का ठूँठ खड़ा है,
गगन पिरेमिड में रम्भा की ममी सो रही,
दरवाजों पर हड्डी का ताला लटका है।

गगनबिहारी कल का
आज नीम सा लहर रहा हूँ,
रात रात तक बोलूँगा अब गाम किनारे के पीपल का पत्ता बनकर,
पहरू जैसा।
मुझे द्वार पर लता रूप में उगा देखकर
किसी वधू ने मेरी लता अंगुली में था जीवन बाँस थमाया।

ईंट पत्थरों की बाँहों से मुझे घेर लो
मैं न चाहता और भटकना शून्यलोक में—
बरस रहा हूँ चट्टानों पर, खलिहानों में,
नगर, ग्राम के मन आँगन पर,
मैं पृथ्वी का सदा पुत्र हूँ
है धरती ही माता मेरी !!

प्रार्थना :

प्रभु मोर कण्ठ के
बल देवो, घोष देवो, न्याय देवो !!

जानी हमीं कवि नहीं,
जानी हमों ऋषी नहों,
हमीं संगीतहारा, पथहारा—
कोटिजन संगे पिसि गिये पूँजीरथे,
हमीं एक जन बिचारा
प्यासहीन, डाकहीन—
बस प्रभु ! एक गान लिखी चाई
जन-जन जीके गाई !!

हमीं स्मरणीय नहीं,
हमीं वरणीय नहीं,
अन्याय अन्धारे हमीं लघु ध्रुवतारा,
तार-तार वेषे हमीं
लड़ो जावे युगपथे
एकदिन निश्चित करिबे
जनता क भिनसारा ।
बस प्रभु ! रक्त से लिखि जाई
वोई गान जन गाई !!

वनघासें :

वनघासें हम
उन सबकी हैं सखा
सखाहीन जो !!

क्योंकि नहीं बरजा है हमने
अपना हृदय प्रदेश,
क्षितिजछलों के चरण चाँपने
स्वागत करता
खुले खेत सा हम बौनों का देश,—
शिशिरकाँस हम
उन सबकी हैं सखा
सखाहीन जो !!

तुम कुलशीलों से मण्डित
आकाश खिंचे,
सम्पदा विश्व की धार
क्षितिज में कीर्तिबाण से उगे,
सब गर्वों की नियति गगन है—
त्रैलोक्यजयी !
ओ श्रेष्ठलोक !
तुम यशपिनाक !!

पर हम कुलशीलों से वंचित
क्षुद्र दूब—
बन शिशिरकाँस
यहाँ वहाँ यों ही उग आने वाली घासें

स्वत्वहीन,
हम अपात्र को बड़े भाग से यही एक कर्त्तव्य मिला है—
उग आयें,
ढँक दें
धरती के नग्न जघन को,
खूँद गया है जिसे तुम्हारा यश महान।
हरियायीं तँबियायीं, झुलसीं,
समय रेंगतीं
वनघासें हम
हरी चीटियाँ—
लाज बुन रहीं उघरे तन पर,
बम गोलों से तुम उघार कर
दावा करते निर्माणों का।
कहाँ तुम्हारी श्रेष्ठ शक्ति
औ क्षुद्रकर्म हम वनघासों का—
सब विनयों की नियति धरा को
ओसवती दूबों से मण्डित करने—
गिरि, वन, मरुथल, नगर, ढूह
हम नाप रही हैं आदिकाल से।
समय चीटियाँ—
वनघासें हम—
नैनपर्व की संज्ञा देने—
लाँघ कँटीले तार पार्क के,
सब चरणों के मार्ग सजाने,
जले क्षितिज पर दूब-अल्पना
स्वप्न लिये

हम रेंग रहीं
फुटपाथों की आज्ञा में रहकर
कालदूरियाँ !!

समय का भिक्षु :

द्वार पर भिक्षुक पुकारा एक—
"आज है एकादशी माँ ! कुछ मिले"—की टेक ।
किस अनामा भूमि का यह भिक्षुजन ?
कौन कुल ?
किस ग्राम का ?
किस पीर ने
व्यक्ति
वैतालिक बनाया ? कि—
नित सकारे,
सभी द्वारे,
तिथि उचारे,
नित नया दिन खोल जाता क्षिति किनारे····'

"ओ पाण्डुखौरी ! सर्वसमभावी ! पात्र फैलाओ—
तुम्हारे तिथिपात्र का ही देय था
यह आयुफल—
ओ समय के भिक्षु !
कल फिर डाकना तिथि द्वादशी !!"

पुनः भिक्षु :

"द्वारे एक भिक्षुक बोले माँ !
दान देबो, आज के प्रदोष आछे—"
"सत्कारो बेटी ! अन्न दे भिक्षुक के—"
"ना माँ ! अन्नप्रियी नेही वो—"
"मुद्रा सँग श्रीफल दे तुष्ट करो—"
"ना माँ ! वह वीतरागि स्वीकारे यह भी ना—"
"तो वह इस ड्यौढ़ी से क्या चाहे बोले ?"
"क्या जाने, ऐसे ही बोला वह—
अपने को वर दे, श्रेष्ठ ! तू अपने को वर दे—"
"पामर को देखूँ तो भिक्षु बड़ा····"

द्वार का भिक्षुक था चला गया—
कंचन से कुन्तल उस मोड़ झलमला गये—
"बेटी ! वह यौवन था वरने को आया—"

यौवन भी भिक्षुक है—
तिथि सा जो आता है, वरने को—
अपने को दोगे ?
देना है कठिन !!

मित्र हूँ, प्रियम्वद् हूँ :

इस अपमानित मुखवाले दिन का
मैं मित्र हूँ, प्रियम्वद् हूँ !!

जिसके आलोक में
सौम्य चीड़ पंक्तियों ने
छालों औ' फूलों की भिक्षा ली,
छतनारे देवदार गाछों ने
पर्णहीन पतझर से
वासन्ती चीवर की दीक्षा ली।
सीतापति खेत हुए,
टेसू में तिथियाँ सब सुलग उठीं—
देवों के यश सा यह उजला दिन
उत्सव है !!
जात्रा है !!

किन्तु तुम उदास बने बैठे रहे
अपने विकल्प सने,
कीर्तिप्रिया इन बाहुओं को
ऋतु के पहले ही झुका लिया—
कर्म की हत्या की।
तुमने तिरस्कृत किया
दिन को
उसकी महत्ता को—
ओ हतभागो ! आओ स्वीकारो,
बाँसों के फूलों से विनयी हो—
खोजो,

उस दिन को
जो सम्यक है—
पश्चिम तट खोजो,
मत जाने दो अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत
देवों के यश से उजले उस दिन को—
डाको,
विनयो—
"लौटो,
ओ सम्यक् दिन ! लौटो,
हमें आलोको
हमारी रचनाओं को दूबों का शील दो—
हमारी मृत चेतनाओं को धेनु करो,
धूपाभिषिक्त करो"—

आओ हम सरपत का शील वरें,
ओ झील की सी शान्तिमुखवाले सम्यक दिन !
हम मित्र हैं, प्रियम्वद् हैं !!

निवेदनम :

समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!
बिना जिसके
गर्व है यह माथ,
स्कन्ध का आधार दो—
व्यक्तिवेदी दो समर्पण को !!

पथलिपे वन बुझ रहे वे,
शुभ संकल्प से सब गाछ
दु:ख दुहरा रहे वे,
वेदना के स्मरण से कुछ शेष आँधारे
शिखर—
आकाश के अध्याय बाँचूँगा
सुनो—
सूर्यास्त है—
झेल लो तुम क्षितिज बनकर,
साँझ संज्ञा दो
सँझा दो सूर्य को—
हलद्डैना चाँदनी !
वचनजल में दुखबलाका तैर जाने दो !!
समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!

प्रति सूर्य का तिथिदीप
मेरी आयुतुलसी सम्मुखे
बुहर जाता—
कल जिसे मैंने जिया—

खोल जाता अर्थ सा आठों दिशा—
पर व्यर्थ है यह गगन-कलशी
धूप का अभिषेक—
खींचती है मृत्तिका सब स्वत्व,
इस संघर्ष पार्थिव को
बाहुओं की जलाधारी दो !!
समर्पण को व्यक्तिवेदी दो !!

डार बिछुड़ा मृग :

डार बिछुड़ा मृग
कौन वन भटके, न भटके !!

यमदिशा सी यात्राएँ वर्जिता
हो गये पथ तक अहेरी,
हैं यहाँ भी वन
कमल के, कदलियों के—
स्मरण सी सरिता खिंची है आक्षितिज
पर नहीं वह जहाँ सँग-सँग जल पिये री ।
क्षिप्रचरणा !
क्वाँर से बचना
अधिक श्यामा न हो जाना,
कोपलों हित बेंत के विजनों न जाना
वहीं लगते बाण री—
डार से कहना
हमें डाके,
कदाचित्
कोई अयाचित मलय ले आये
डारडाकों सँग तुम्हारी चम्पई तनगन्ध—
वही तो देगी दिशा
इस यात्रा की ग्रहण-ग्रसिता चेतना को ।
मृगकान्ता !
विकलता शोभा नहीं देगी तुम्हें,
उन तालगाछों के तले
आँधियाँ लिपटी हुईं

ध्रुव बनी रहना वहीं—
कदाचित्
कोई अयाचित फिर अहेरी
बाध्य कर दे
लाँघने को चित्र-सी धौली कछारें
अपरिचित यह भद्रवन,
दी हमें जिसने शरण
परिवास में।
शाल के एकान्त में डूबी कछारों का,
पत्नियों सी लज्जिता
सारसप्रिया इन शालकुञ्जों का
कृतज्ञी हूँ, रहूँगा भी—
घनेरी साँझों सरीखे मुक्त मित्राचार के
तीर्थवत् ये बन्धु हैं—
किन्तु
मुझे अपनी मरिचिका घेरे हुए है,
मिथ्या सही
पर वही मेरी डारयात्रा है,
नियति है,
क्वाँर की श्यामामृगी है !!

मेघपाहुन द्वार :

पश्चिमे यामे पधारे
नतनयन के मेघपाहुन
मुझ अकिंचन द्वार !!

मेघराजा !
यह अपात्री जलकृपा किस जोट बाँधे ?
किस खेत को अपना बता
मेड़ बाँधे,
हर्ष से विनये—
ओ देववर्षा !
इन आँगने, खेते अमृत बरसो ।
एक भी पोखर नहीं
जो राजपाहुन को पुकारे—
प्रतीक्षा होली हुई,
सब तृप्तियाँ पथरा चुकीं,
क्यों मुझे लज्जित किया इतनी कृपा ले ??

क्या कहेंगे
जब सुनेंगे शेष पुरवासी—
—बड़ सकारे
अभागे के द्वार थे ठाकुर पधारे—
लौटा दिया इस अपशकुन ने,
आँगने पीपल कहीं का—

स्वर्गराजा !
सो न होगा,

कुलदेवता, कुलअम्बिका से
पुरजनों के खेत-पोखर जहाँ फैले
चलो अमृत करो ठाकुर !
इस सहज परिवार को
अपनी कृपाएँ ब्याह दो,
मनुज के सम्बन्ध से सब स्वर्ग है,
छू जिसे पाथर अहल्या तक हुए—

मेघराजा !
जलों को छोड़ो,
धरा को तीर्थ करने
अकिंचन पार्थिव खड़ा है
केश खोले—
भले ही गल जाय,
पर धारनी है धार
मुक्ति की इस बार !!

पीले फूल कनेर के :

पीले फूल कनेर के !!
पथ अँगोरते
सिन्दूरी बडरी अँखियन के
फूले फूल दुपेर के !!

दौड़ी हिरना
बन बन अँगना—
बेंतवनों की चोर मुरलिया
समय-सँकेत सुनाये,
नाम बजाये;
साँझ सकारे
कोयल-तोतों के संग हारे
ये रतनारे—
खोजे कूप, बावली, झाऊ,
बाट, बटोही, जमुन कछारें—
कहाँ रास के मधु पलास हैं ??
बटशाखों पे सगुन डाकते मेरे मिथुन बटेर के !!
पीले फूल कनेर के !!

पाट पट गये,
कगराये तट,
सरसों घेरे खड़ी हिलाती पीत-चँवरिया सूनी पगवट,
सखि ! फागुन की आया मन पे हलद चढ़ गयी—
मँहदी महुए की पछुआ में
नींद सरीखी लाज उड़ गयी—

कागा बोले मोर अटरिया
इस पाहुन बेला में तूने
चौमासा क्यों किया पिया ?
क्यों किया पिया ??
ग्रह टेसू सी नील गगन में हलद चाँदनी उग आयी री—
उग आयी री—
पर अभी न लौटे उस दिन गये सबेर के !!
पीले फूल कनेर के !!

उदयन है यशवंशी :

ओ उदयन ! उधर नहीं,
वहाँ पितर अस्ताये !!

मत पूजो अस्ताचल,
खण्डित की पूजा ही वर्जित है ।
कुल का मत मोह करो—
तुम हो यशवंशी,
माथे पर उत्सव लिख भेजा है तुमको ही
दिन बनने,
धूपों का प्रिय बनने ।
अपने को दे दो इस पृथिवी को
यही तुम्हें धारेगी—
यश की यह पत्नी है ।
ओ उदयन !
दान हमें कालजयी करता है
मृत्य नहीं वर पाती
उसकी ही कीर्तियाँ दिशा चीर जाती हैं—
ओ उदयन !
सत्य यही जिस द्वारे उदयाये,
उधर नहीं
वहाँ पितर अस्ताये !!

मेघ से पहले :

मेघ से पहले मेघछायाएँ
लीपतीं बन-बाट;
गाछ सोनाले, उजाले घाट;
प्रतीक्षा मेघ की
दिशा पर्यन्त—
मेघ से पहले मेघछायाएँ !!

केलदल झुक झूम हर्षाभार,
खिल उठे हैं धुली धूपों में
वृद्ध वट विस्तार—
स्नात सागर कूल, फैली बालु
पार के भी पाऽऽर—
शोभा है प्रतीक्षा की,
मेघ से पहले मेघछाया की !!

प्रतीती दे रहा यह नारियल परिवार
शंख-सीपी-संशयों को—
ये जलवंशियाँ ही मुक्ति हैं,
मेघ का ही आगमन बनफूल है,
आ गये हैं मेघ,
काँकड़ पहुँचते ही हैं,
देवता, विश्वास है—
जो भी पात्र होंगे,
सुकृत जिनके नाम आगे लिखा होगा
जल उन्हें चीवर बनेगा,
वृष्टि चूमेगी उन्हीं के जयभाल !!

ओ सुपात्री !
क्या हुए विश्वास के वे
कुम्भपोखर, ताम्रघट, संकल्पिकाएँ ??
क्षण मिला है—
उजालो निज पात्र अपने,
मेघ से पहले मेघछायाएँ झुकी हैं
कृतिपात्रों के लिए !!

वचन का बकुल :

केतकी में आ गये
फिर फूल पत्ते
सब नये—
वचन के इस बकुल को
पर क्या हुआ
जो हमें तुम दे गये ?

समय का जल :

आओ इस झील को अमर कर दें—
छू कर नहीं,
किनारे बैठ कर भी नहीं,
एक संग झाँक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम,
इस जल को—
जो समय है !!

मालवी फाल्गुन :

फागुनमासे अमलतास सम
उघड़े नील अकास !!

खुले ताल जलधुली आँख से,
दिन उजलाने हंसपाँख से,
बनघासों में खड़ी खजूरों
संगे हो लो नदी बाँक से;

टेसू सुलगे शुक-चोंचों से
सिंदुरे सभी पलास !!

ईखफूल खेतों इँगुराने,
झाल-झाल पल्लव तँबियाने,
बनधतुरे के पीले फूलों
गरवट संगे माल सजाने

क्यों विधवा सी माघमास की
काँकड़ खड़ी कपास !!

काली माटी सरसों फूली,
फागपाग में नाचे ढूली,
खिरनी जंगल, हिरनी चंचल,
फागुआ चलती ज्यों बट भूली,

खुले खेत कोयल कूकें सुन
सेमल करे विलास !!

बड़भागों बौरीं अमराई
महुआ फूला, बेरें आई

साँझ पड़े, जाती दमनी की
आती झिम्-झिम् झिम्-झिम् झाँई

उगे टीमरू सा फगचन्दा
जगरे हलद प्रकास !!

फागुनमासे अमलतास सम
उघड़े नील अकास !!

यहीं कहीं :

डूबा है सूर्य अभी यहीं कहीं !!
जंगल से लौटते
पशुओं के खुरों से जो उड़ी धूल
छा रही सभी कहीं !!
खेत में लिखी जो
हल ने व्यथा—
रंगफसल बनने तक पड़ी वहीं !!

किरन जो डूबी उस डूँगर पार
चीं-चीं कर गोल बना
लट सी वह
पश्चिम में उड़ी रंगपाँती
क्योंकि वेदना सही नहीं !!

धूप चाँदनी का
सहारा ले जिया जो मन
अंधकार सरपत की धार उसे छुई नहीं !!

अंधकार, प्रियजन की सुधियों सा
बेर जालियों से वह उलझ-उलझ,
उतरा है
मुँह धोता पोखर में यहीं कहीं !!
डूबा है सूर्य अभी यहीं कहीं

देवकृपाएँ :

जाने-अनजाने योग दिया जिनने—
वे सब वरेण्य हैं,
मुझ अपात्र के निर्माता हैं,
मनुजदेह में वे सम्यक् हैं !!

किसी स्नेह ने
झोर-झोर झकझोर सिखायी
पीपल की कम्पन विनम्रता,
हमें वर गये हैं विराट स्वर, पर
गाने को अपनी अपात्रता—
मेरी वाणी !
सिन्धु दुहो इस आयुशंख के शीलपात्र में ।
जागेगी, निश्चय जागेगी
अपमानों को चीर यशप्रिया वैतालिकता !!

बाँध गया सरिता के उत्सर्गों से कोई,
खोल गया धरती यात्रा हित,
सब अभाव को भरो
समर्पण करो प्यास के उत्सव को
ओ तृप्ति हमारी !
शून्य न रहने पायें पोखरपात्र अघोरी,
महाश्रेष्ठ की तुम मधुकरि हो
जलकुल का परिवार बना दो इस अतृप्ति को !!

कोई हमें तपाकर
घनचोटों में छोड़ गया है ।

ओ अग्निफुंके !
बदलो,
अपने को बदलो,
शिष्यत्वशील को चोटों की गुरुकृपा सम्मुखे
ढल जाने दो ।
प्रजा रच रही हैं चोटें ये—
आदेश खिचेंगे खेतों में कल,
देवदार से चिर जाएंगे शैल,
इस महान भावी स्वरूप को
सर्वस्वो,
अपने अतीत को सर्वस्वो !!

हमें अपर्णी करनेवाले
वे करुणावतार हैं—
वस्त्रों की दीवारें टूटीं
जोड़ गये अनजाने ही वे दर्प हमारा
वस्त्रहीन कुलजाति शेष से ।
तनकंचन सम्मुखे वस्त्र को लाज आ गयी,
ओ अपरा !
मेरी अपर्णता सृष्टि हो गयी !!

यह अपर्णता,
दुःख रूप यह,
धावित यात्रा,
वैतालिकता—
इतनी महत् कृपाएँ सहसा
अयाचिता

इस भिक्षुद्वार पर ??
स्वागत करो
कृपारथ थाके डाक दे रहे,
जाने किन पुण्यों के कारण
ये मुहूर्त घर बैठे आये।
स्वागत करो,
विश्रामेंगे रात यहाँ ये,
शिशिर रात तापेंगे ये प्रभु—
आओ हम यूथित कर दें
निज स्वार्थ, दर्प, अन्धी महानता।
पहचानो,
ओ बन्धु ! हमारे
पहचानो ये दु:ख आज के,
घनचोटें सब,
धावित यात्रा,
वैतालिकता—
देवकृपा हैं,
ये ही तममस्तक पर
रखने वाली हैं कल को
उदयाचल !!

विशिष्ट शब्द :

प्रव्रजावसित	—	पथभ्रष्ट
टेशोकोटो	—	एक जापानी तन्तुवाद्य
गाम गोयरे	—	ग्रामसीमा
के	—	'को' के अर्थ में
जीके	—	जिसको
पाण्डुखौरी	—	पीत वस्त्रधारी
सीतापति	—	हलरेखा युक्त
जात्रा	—	मेला
डार	—	झुण्ड
पश्चिमे यामे	—	रात्रि का अन्तिम प्रहर
जोट	—	दोहर
उदयन	—	सूर्य के लिए प्रयुक्त
काँकड़	—	ग्रामसीमा
झाल	—	ज्वाला
गरवट	—	गाड़ी का रास्ता
माल	—	जंगल
ढूली	—	ढोली
दमनी	—	छोटी बैलगाड़ी
टीमरू	—	पीला बनफल

श्री नरेश मेहता

नयी-कविता को रचनागत और भाषागत गरिमा तथा प्रतिष्ठा दिलवाने वालों में श्री नरेश मेहता अग्रगण्य ही नहीं रहे बल्कि सभी दृष्टियों से विशिष्ट एवम् अप्रतिम भी। सन् '५७ में जब उनका यह प्रथम काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ तो नयी-कविता की दिशा और दृष्टि को ही इसने प्रस्थापित नहीं किया बल्कि कविता की भावी संभावनाओं को भी रेखांकित किया। स्वयं नरेशजी के 'उत्सवा' और 'तुम मेरा मौन हो' की आज की उपलब्धियों के सारे आरंभिक तत्त्व इस संकलन में स्पष्ट रूप से विद्यमान थे, तभी तो यह संकलन हिन्दी काव्य-इतिहास के विकास को भी प्रदर्शित करता है।

हिन्दी-कविता की सभी भाषिक और वाचिक परम्पराओं का प्रभूत प्रमाण अपने रचनात्मक परिपक्व रूप में 'बनपाखी सुनो' में मौजूद है। साथ ही इन कविताओं ने अपनी भी स्वतन्त्र परम्परा निर्मित की तथा दूसरों को प्रभावित भी किया और सिद्ध किया कि महत्त्वपूर्ण कवि न केवल आपंक्तेय ही होता है बल्कि समकालीनता से हटकर अपनी पृथक पहचान बनाने का खतरा भी उठाता है।

नरेशजी आज अपनी कविता की ही सार्थक और स्वतन्त्र पहचान नहीं हैं बल्कि भारतीय कविता को उदात्त वैष्णवता के विशाल फलक की ओर मोड़ पाने में सफल हुए हैं।

श्री नरेश-साहित्य

काव्य • बनपाखी सुनो
बोलने दो चीड़ को
मेरा समर्पित एकान्त
उत्सवा
तुम मेरा मौन हो
संशय की एक रात [खण्ड-काव्य]
महाप्रस्थान [खण्ड-काव्य]
प्रवाद-पर्व [खण्ड-काव्य]
शबरी [खण्ड-काव्य]

उपन्यास • डूबते मस्तूल
यह पथ बन्धु था
धूमकेतु : एक श्रुति
नदी यशस्वी है
दो एकान्त
प्रथम फाल्गुन
उत्तर-कथा (दो खण्ड)

कहानी • तथापि
एक समर्पित महिला

नाटक • सुबह के घण्टे
खण्डित यात्राएँ

एकांकी • संनोवर के फूल
पिछली रात की बरफ (रेडियो)

विचार • काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व

सम्पादन • वाग्देवी